निर्बलों के लिए भेदभाव

पी. साईनाथ

हाल के वर्षों में भारतीय बुद्धिजीवियों की एक बड़ी उपलब्धि जाति को एक नया रंग चढ़ाकर असमानता के संघर्ष का मुद्दा बनाना है। ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज व इस प्रकार की अन्य संस्थाओं में हुए हाल के आंदोलन इसके अच्छे उदाहरण हैं। जातिवाद अब कोई परहेज की चीज़ नहीं है जैसी 50 वर्ष पूर्व थी। आज यह कहा जा रहा है कि जाति देश की हत्या कर रही है—पर इससे पीड़ित उच्च जाति के लोग हैं और खलनायक नीचे के क्रम की जातियां हैं। इनकी भीड़ उच्च वर्ण के लोगों को नौकरियों और शिक्षण संस्थाओं से बाहर कर रही है। जिन पर वंशानुक्रम में निहित योग्यताधारियों का प्रभुत्व था।

इससे एक खुशी की परिस्थिति पैदा हो गई है। आप जहरीले जातिवाद को अपनाते हुए भी इसे एक महान उद्देश्य समझ सकते हो क्योंकि आखिरकार आप समान अधिकारों के लिए लड़ रहे हो, और जाति विहीन समाज का आह्वान कर रहे हो। सत्य और न्याय आपके पक्ष में है। और इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि मीडिया भी आपके पक्ष में है। याद कीजिए एम्स के आंदोलन को मीडिया ने किस तरह कवर

किया था।

'विपरीत भेदभाव' का विचार जोर पकड़ रहा है। वाल स्ट्रीट जरनल ने भारत पर एक रिपोर्ट में इस विचार को स्थान दिया है। इसने एक उच्च जाति के पीड़ित व्यक्ति के प्रति इस 'विपरीत भेदभाव' के शिकार होने पर सहानुभूति व्यक्त की है। ("Reversal of fortunes Isolates India's Brahmins" Dec. 2.9.2007) अख़बार लिखता है कि "आज के भारत में उच्च जाति के विशेषाधिकारों में कमी आ रही है" इस कहानी का समर्थक अपने दादा से अधिक उदारवादी है क्योंकि वह नीची जाति के लोगों से अपने सामने जूते उतारने की अपेक्षा नहीं रखता। वाह! क्या अच्छी बात है।

यह बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि हम विशेषाधिकार किसे मानते हैं और भेदभाव को हम किस प्रकार से देखते हैं। वॉल स्ट्रीट जरनल की रिपोर्ट इन दोनों चीज़ों को एक बात में रख देती है : शिक्षा व नौकरियों में आरक्षण का कोटा। उनकी दृष्टि में इसका कोई दूसरा पक्ष नहीं है। वह वास्तविक दुनिया में इसका दूसरा पक्ष है। स्कूलों में दलित विधार्थियों को भी नीचा दिखाया व तंग किया जाता है। यह एक सामान्य बात है। बहुत से बच्चे इसी कारणवश स्कूल छोड़ देते हैं। उन्हें कई स्कूलों में कक्षाओं में तथा पोषाहार के समय अलग बैठाया जाता है। यह उनके साथ नहीं होता जिनके विशेषाधिकारों मे कमी आने की बात कहीं गई है।

उच्च जाति के बच्चों को घड़े में से पीने का पानी लेने के लिए अध्यापक का थप्पड़ नहीं खाना पड़ता, ना ही पढ़ाई में अच्छी उपलब्धि प्राप्त होने पर उनके चेहरे पर ऐसिड फेंका जाना है। उन्हें कॉलेजों में प्रवेश लेने पर छात्रावासों में या भोजन कक्षों में अलग नहीं रहना पड़ता। दलित विद्यार्थियों को कदम-कदम पर भेदभाव का सामना करना पड़ता है। उनके साथ काम की जगह पर भी भेदभाव होता है।

जैसा कि सुबोध वर्मा कहते हैं इन सभी बाधाओं के बावजूद इनकी उपलब्धि प्रशंसनीय है। (The Times of India, Dec. 12, 2006)। जबकि 1961 से 2001 के बीच कुल साक्षरता प्रतिशत दुगना हुआ, दलितों का साक्षरता प्रतिशत चार गुना हो गया। यह सही है कि इसे उनके प्रारम्भ के न्यून साक्षरता प्रतिशत स्तर के संदर्भ में देखना चाहिए। पर यह घटित हुआ है, लाखों लोगों की दुखदाई परिस्थितियों के बावजूद। पर इस उपलब्धि का उनकी संपन्नता पर असर कम ही दिखाई देता है।

वाल स्ट्रीट जरनल का कहना है कि "लगभग आधे ब्राह्मण परिवारों की मासिक आय 100 डालर से कम है (या 4000 रु.) बहुत अच्छी बात है, (सारणी बताती है कि यह स्थिति 90% से अधिक दलित परिवारों की है) परन्तु शायद यह पत्रकार नेशनल कमीशन फॉर एन्टरप्राइजेज इन अन आरगेनाइजड सेक्टर के प्रतिवेदन से अनभिज्ञ है जिसमें कहा गया है कि 8360 लाख भारतीय 20 रु. या 50 सेन्ट प्रतिदिन अर्थात् लगभग $ 15 प्रतिमाह पर गुजारा करते हैं। लगभग 88% अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति (तथा अन्य पिछड़ी जाति) के लोग इस श्रेणी में आते हैं। यह भी सही है कि कुछ गरीब ब्राह्मण व अन्य ऊपरी जाति के लोग भी वास्तविक गरीबी का सामना कर रहे हैं। परन्तु इस तथ्य को मरोड़कर 'विपरीत भेदभाव' की दलील देना उचित नहीं है। विशेषकर तब जब वाल स्ट्रीट जरनल की कहानी में कहा गया है कि "(ब्राह्मण) बाकी भारतीयों से अधिक पढ़े-लिखे व अधिक आमदनी प्राप्त लोग हैं।"

बड़ी विचित्र बात है कि इस समाचार पत्र ने खैरलांजी की बरबरता की कहानी दो दिन पूर्व ही, इस घटना के घटित होने के एक वर्ष बाद छापी है। किसी अन्य संवाददाता के अनुसार भोटमांगे परिवार को उसकी आर्थिक खुशहाली प्राप्त करने में सफलता के लिए विदर्भ के गांव के इस परिवार के उच्च जाति के पड़ोसियों का कोपभाजन सहन करना पड़ा। पर यह अख़बार भारत की आर्थिक प्रगति की सफलता इस पर आंकता है कि इसके कारण लाखों गरीब भारतीय जिनमें

दलित भी शामिल हैं लाभान्वित हुए हैं। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या इस आर्थिक प्रगति से केवल दलित ही लाभान्वित हुए हैं अन्य ऊपरी जाति के लोग नहीं? फिर यह कैसे कि केवल दलितों को ही लाभ मिला है?

जैसा कि वर्मा बताते हैं, 36% ग्रामीण व 38% शहरी दलित गरीबी रेखा के नीचे हैं। जबकि भारत की समस्त ग्रामीण एवं शहरी आबादी में यह प्रतिशत क्रमशः 23% व 27% है। (सरकारी गरीबी के आंकड़े फरेब होते हैं यह अलग बात है।) एक चौथाई से अधिक दलितों को, जिनमें से अधिकांश भूमिहीन होते हैं, सालभर में केवल छह महीने काम मिलता है। उनमें से आधे परिवार $ 50 प्रतिमाह कमा लें तो यह एक क्रांति होगी।

हमें इसका सामना करना चाहिए। भारत का अधिकांश मीडिया इस "विपरीत भेदभाव" के दृष्टिकोण को मानता है। हाल ही में पुणे में हुए ब्राह्मणों के महासम्मेलन को ही लें। इस जाति आधारित सभा में भी उपनामों के टापू बने हुए थे और बैठक व्यवस्था भी इन उपनामों या उपसमूहों के अनुसार थी। इससे अधिक जाति केंद्रित क्या हो सकता है? इस ओर भारतीय मीडिया का ध्यान नहीं गया। लगभग इसी समय मराठों की भी उच्च स्तर की सभा हो रही थी। यह महाराष्ट्र की प्रमुख जाति है। इस सभा में उनकी जाति के लिये जाति आधारित आरक्षण की मांग की गई। यह भी कोई अजीब बात नहीं लगी।

परन्तु दलितों की सभाओं को जातिवादी या नस्लवादी रूप से देखा जाता है। हालांकि दलित कोई जाति नहीं है, किंतु इनमें अनेक सामाजिक समूहों के लोग शामिल हैं जो छूआछूत के शिकार रहे हैं। दिसंबर 6 को मुंबई में मनाई जाने वाली आम्बेडकर जयंती को खारिज कर दिया गया है क्योंकि इस शहर को इतनी संख्या में लोग इकट्ठा होने से नुकसान एवं ख़तरा उठाना पड़ता है। शहर की यातायात व्यवस्था ठप्प पड़ जाती है। क़ानून व्यवस्था को ख़तरा होता है। शिवाजी पार्क से संभ्रांत लोगों के पलायन की संभावना बनी रहती है। (उनके सभ्य जीवन को हुजूमों के ख़तरे के कारण)। और फिर सफ़ाई की समस्या (कभी अनकही नहीं रहती क्योंकि इसमें जातिगत पूर्वाग्रह झलकता है और हमें उन्हें गंदे कहने का अवसर प्रदान करता है।)

पुनः वास्तविक दुनिया में लौटें। कितने सवर्णों की आंखें इसलिए निकाल ली गई हैं क्योंकि उन्होंने अपनी जाति से बाहर शादी की। महाराष्ट्र के नांदेड के साटेगांव के चन्द्रकान्त से पूछिए उसके साथ गत सप्ताह ऐसा क्यों हुआ? भूमि या अन्य विवादों में कितनी सवर्ण बस्तियां जलाई गई हैं? कितने सवर्णों ने अपने अवयव या जानें मंदिरों में प्रवेश के कारण गंवाई हैं?

कितने ब्राह्मण या ठाकुरों को गांव के कुएं से पानी भरने के लिए मारा जाता है या ज़िंदा जलाया जाता है? जिनके विशेषाधिकारों के कम होने की बात कही जाती है उनमें से कितनों को चार किलोमीटर से पानी लाना पड़ता है? कितने सवर्ण समूहों को गांव के बाहर की हद पर रहना पड़ता है? एक तरह से स्थानीय नस्ल भेद के रूप में। यह भेदभाव है। परन्तु वाल स्ट्रीट जरनल के संवाददाता को यह दिखाई नहीं देता।

वर्ष 2006 में, नेशनल क्राइम रेकॉर्डस् ब्यूरो के आंकड़े बताते हैं कि दलितों पर जुल्मों की वारदातों में वृद्धि हुई है। मानवाधिकार हनन के मामलों में 40 प्रतिशत वृद्धि हुई। वर्ष 2005 की तुलना में दलित, हत्याओं, बलात्कार एवं अगवा करने की वारदातों के अधिक शिकार हुए हैं। उनको लूटने व डकैती के मामले भी बढ़े हैं।

यह अच्छी बात है कि विदेशी पर्यटकों के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती या बलात्कार के मामलों (विशेषकर राजस्थान में) के बारे में हम चिंतित हैं और तुरत-फुरत कारवाई करते हैं। पर दलित महिलाओं पर इससे भी खराब अत्याचार और इससे भी बड़े पैमाने पर होने के बावजूद उन्हें उतना महत्व

नहीं दिया जाता जितना पर्यटकों को मिलता है। इसी राजस्थान में एक दलित महिला के साथ बलात्कार के मामले को न्यायाधीश ने यह कहकर खारिज कर दिया कि एक ऊंची जात वाला व्यक्ति एक बहुमती नीची जाति की महिला के साथ बलात्कार करे यह असंभव है।

कुम्हेर के नरसंहार के केस में जिसमें 17 दलितों की जानें गई थीं, सात वर्ष तक आरोप दाखिल नहीं हो सके। और एक पर्यटक के मामले में कोर्ट ने 14 दिनों में गुनहगार को दोषी करार देते हुए फैसला सुना दिया। दलितों के मामले में 14 वर्षों में भी फैसला हो जाता तो भाग्य समझिये। भारत के संपन्न लोगों के घर महाराष्ट्र को लें। मुंबई के बलात्कार के मामले की ओर इतना ध्यान दिया गया कि आरोपी पांच दिन जेल में रहकर जमानत पर रिहा हो गया। इसके विपरीत लातूर में एक मुस्लिम महिला बलात्कार की शिकार हुई और नादेड में एक दलित को निर्दयता से अंधा बना दिया गया। लातूर मामले को रफा-दफा कर दिया जाता यदि पीड़िता के समुदाय के लोगों ने अपना संकल्प न दिखाया होता।

दलितों को उनके जीवन में तो भेदभाव का सामना करना ही पड़ता है पर यह भेदभाव उनका पीछा मरने पर भी नहीं छोड़ता। उनको गांव के श्मशान को भी उपयोग में नहीं लेने दिया जाता।

यदि दलित अपने प्रियजनों को सवर्णों द्वारा आपत्ति उठाए स्थानों पर दफनाते हैं तो उनके शरीर के चिथड़े जमीन से बाहर निकाले हुए मिल सकते हैं। हर साल ऐसी और अन्य ज्यादतियों का शुमार सरकारी रिकार्ड में शामिल होता रहता है। ऐसा सवर्णों के साथ नहीं होता जिनके विशेषाधिकार कम होने की बात कही जाती है। 'विपरीत भेदभाव' के सिद्धांत के प्रवर्तक एक बीमार परिपाटी के पोषक हैं।

(अनुवाद-डॉ. ए. बी. फाटक, उदयपुर)
